पूर्वकथन

- **सौम्य मालवीय**

प्रख्यात समाजशास्त्री जीत पाल सिंह ओबरॉय (सितम्बर 1934 – 3 जनवरी 2024) विभाजन पूर्व हिंदुस्तान में जन्मे और अपनी प्रारम्भिक शिक्षा इलेक्ट्रिकल और संचार अभियांत्रिकी में यूनिवर्सिटी कॉलेज लंदन से हासिल की। एंथ्रोपोलॉजी (नृविज्ञान) की दुनिया से उनका परिचय मैंचेस्टर स्कूल ऑफ़ एंथ्रोपोलॉजी में बतौर एक विद्यार्थी के हुआ और यहीं से उन्होंने डॉक्ट्रेट की उपाधि भी हासिल की। जगह के अभाव के कारण उनके दीर्घ समाजशास्त्रीय जीवन पर चर्चा करने के बाजाए एक फ़ौरी ख़ाका खींचते हुए कुछ बुनियादी संकेत देना उपयुक्त रहेगा। अपने पीएचडी सुपरवाइज़र और प्रसिद्ध नृविज्ञानी मैक्स ग्लकमैन के प्रभाव में और उनके ज़रिये ब्रिटिश सामाजिक नृविज्ञान की समृद्ध परम्परा में दीक्षित होने की वजह से ओबरॉय में संरचना के विचार के प्रति फ्रेंच-संरचनावाद से किंचित भिन्न संवेदनशीलता विकसित हुई। बल्कि यह कहना ग़लत न होगा कि वे दोनों परम्पराओं के श्रेष्ठतम के प्रति आकर्षित हुए और संरचना (व्यवस्था) के विचार के साथ-साथ परिवर्तन और संघर्ष को भी लक्ष्य कर सके। विशेषकर मैक्स ग्लकमैन के प्रभाव में उनमें इस दृष्टि ने आकार लिया कि 'संरचना' एक गतिहीन व्यवस्था नहीं होती बल्कि समाजैतिहास के विभिन्न टकरावों और उन्मुखताओं और उसकी मुतय्यन दिशाओं को समझने के लिए एक विश्लेषणात्मक फ़ोकस प्रदान करती है। जहाँ प्रसिद्ध फ्रेंच नृविज्ञानी लुई ड्यूमों (1911-1998) संरचना के विचार को महज़ पारम्परिक समाजों के अध्ययन हेतु उपयुक्त पाते हैं क्योंकि उन समाजों का झुकाव तथाकथित रूप से बंद और अपरिवर्तनीय बने रहने की ओर होता है, ओबरॉय के यहाँ हम संरचना को वाक़ई एक सिद्धान्त की तरह प्रतिष्ठित होता हुआ देखते हैं जिसे महज़ अध्ययन की सुविधा के लिए अपनाया और छोड़ा नहीं जा सकता।

सन 1968 में प्रख्यात समाजशास्त्री मैसूर नरसिम्हाचार श्रीनिवास (1916-1999) के आमंत्रण पर दिल्ली विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग से जुड़ने के बाद और सन 1999 में वहीं से सेवानिवृत्ति तक और उसके बाद भी लगभग दो दशकों तक सक्रिय रहते हुए अपने विस्तृत और बहुआयामी लेखन, चिंतन और अध्यापन में वे संरचनावाद का एक कल्पनाशील और क्रिटिकल संस्करण विकसित करते रहे। कुछ ब्रिटेन में अपने प्रशिक्षण की वजह से और कुछ और बढ़कर अपनी उस पंजाबियत की वजह से जिसे उन्होंने उत्तराधिकार में पाया था वे संरचनावादी पद्धति को उपनिवेशवाद की समाप्ति के

बाद भी जारी उपनिवेशन को चिन्हांकित करने में तराशते और पैना बनाते रहे[1]। कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य की 'विचारों में स्वराज' की अपील को आड़े हाथों लेते हुए एक संक्षिप्त टिप्पणी में वे कहते हैं कि चाहे माज़ी के दामन से चिपके परम्परावादी हों या विज्ञानपरस्त आधुनिकतावादी दोनों का ही ज्ञान (विज्ञान), विश्वास (धर्म) और क्रिया (राजनीति और कला) के विभाजन और परस्पर अलगाव पर पूरा एका रहता है (ओबरॉय, 2019: 8-10)। इस विभाजन की बुनियाद जिन दो द्वैतों पर फ़राहम होती है, तथ्य और मूल्य, तथा सिद्धान्त और व्यवहार, उनके भिन्न और पूरी तरह बे-राब्ता होने को जस का तस स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसे में ओबरॉय कहते हैं कि बिना इन पूर्व-निर्धारित और मान्य सम्मतियों की आलोचना किए बग़ैर स्वराज की बात करना बेमानी और ला-असर रहेगा क्योंकि ऐसे सुभाषित वचनों (जैसे विचारों में स्वराज) से भला किसी को क्या समस्या होगी, और परम्परावादी और आधुनिकतावादी दोनों अपनी मनमर्ज़ी के हिसाब से इनका हवाला देते हुए ऊपर से एक-दूसरे से रंजीदा पर भीतर ही भीतर रज़ामंद देखे जा सकते हैं। संरचना के अपने विचार और सहगामी पद्धति को ओबरॉय उन द्वंदों की शिनाख़्त करने में लगाते हैं जो आधुनिक अस्तित्वविज्ञान और ज्ञानमीमांसा के मूल में विद्यमान हैं और जिनके अतिक्रमण के बिना निर्द्वंद ज्ञान और अहिंसक पद्धति की बात करना केवल ख़ामख़्याली ही कहा जा सकता है। संक्षेप में नृविज्ञान के शास्त्रीय, आम और ख़ुराक़ी विषयों जैसे कूला विनिमय, राज्यशासित और राजयविहीन समाज एवं तथाकथित 'आदिम' समाजों में नातेदारी और रिवाज से आगे बढ़ते हुए संरचनावादी जेपीएस ओबरॉय सभ्यता समीक्षा की ओर उन्मुख होते गए।

यहाँ अनूदित निबन्ध उनकी चर्चित पुस्तक *रिलीजन सिविल सोसाइटी एंड स्टेट* (1996) का पहला अध्याय है जोकि उस संरचनावादी पद्धति का इस्तेमाल, जिसका ज़िक्र ऊपर हुआ है, सिक्ख धर्म के उद्भव और विकास की दिशा समझने पर एकाग्र करता है। ध्यातव्य हो कि ऐसा करते हुए वे संरचनावाद के अपने संस्करण *सीमियोलॉजी* की पद्धति की भी समुचित व्याख्या और ज़ाहिरा तौर पर उसका निदर्शन भी करते चलते हैं। इस किताब को केवल सिख धर्म के समाजशास्त्रीय विवेचन के लिए ही नहीं, किसी भी तरह के संप्रदायवाद के भारतीयता पर एकाधिकार दावे के तार्किक और मज़बूत विरोध के लिए भी पढ़ा जाना चाहिए। भाषा, श्रम और प्रार्थना के क्षेत्रों में शास्त्रीय/क्लासिकल संरचनाओं को जिस तरह लौकिक/वर्नाकुलर ने रूपांतरित करते हुए लोकोन्मुख बनाया उसे ओबरॉय की दृष्टि में न केवल उत्खनित किया जाना चाहिए बल्कि भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन में महात्मा गांधी की उपस्थिति और हस्तक्षेप तक एक सतत-अन्तः सलिला धारा की तरह बहते हुए देखने की भी कोशिश करनी चाहिए। भारत में नागरिक-समाज

[1] जीत पाल सिंह ओबरॉय पंजाबी संस्कृति और साहित्य के मूर्धन्य विद्वान मोहन सिंह दीवाना के पुत्र थे।

की अवधारणा को समझने के लिए और स्वदेशी के बदले देशी की बहुलता और समावेशिकता को अक्षुण्ण रखने के लिए ओबरॉय के लिए यह पुस्तक एक आवश्यक-बौद्धिक और एक भारतीय नागरिक के तौर पर समीचीन, बल्कि एक हद तक जज़्बाती क़वा'इद भी थी।

आगे अनूदित निबन्ध सिक्ख-धर्म के पाँच प्रतीकों क्रमशः केश, कंघा, कृपाण, कड़ा और कच्छ को एक चिन्हशास्त्रीय व्यवस्था के अंतर्गत रखते हुए उन्हें सिक्ख विचारधारा के प्रमुख अनुषंगों की तरह देखता है, महज़ याद्दक्षिक चिन्हों के तौर पर नहीं। ओबरॉय ऊपर के पाँच प्रतीकों में एक छठा पर ग़ैर-चिन्हांकित और अनकहा पद जोड़ते हैं (ख़तना-रहित जननांग) और तीन जोड़ियाँ (*केश:कंघा::कृपाण:कड़ा::ख़तना-रहित जननांग:कच्छ*) बनाते हुए उनमें सिक्ख दर्शन की मूल वृत्ति और प्रस्थान बिन्दु को लक्ष्य करते हैं। यह मूल वृति है संन्यासी (केश), राजा (कृपाण) और गृहस्थ (प्रजनन क्षमता) को आस्था और व्यवहार की एक ही धारा में और वाक़ई एक ही सिक्ख 'देह' में अवस्थित करना और न केवल ये बल्कि तीनों के मूल्यों पर उचित अंकुश (*कंघे, कड़े* और *कच्छ* के द्वारा) का विधान भी करना। सिक्ख धर्म नकार (संन्यास) और स्वीकार ('नकार' का 'नकार' एक अनुशासित गृहस्थ जीवन द्वारा) के मूल्यों को ऐतिहासिक और सामाजिक संतुलन में रखते हुए मध्यकालीनता के अंधेरे से हिंदुस्तान को निकालकर देशज आधुनिकता का सूत्रपात करता है। इस तरह सिक्ख पद्धति और नैतिकता भारतीय इतिहास धारा में परस्पर रूप से कटे हुए क्षेत्रों को सिक्ख नव-दीक्षित की देह पर केन्द्रित करते हुए उनकी अविभाज्यता का सूत्रपात करती है। यह अविभाज्यता ही सत्ता और परिवार के बरक्स नागरिक समाज की नींव रखती है और इस तरह सिक्ख धर्म केवल हिन्दू धर्म और इस्लाम के संश्लेषण या सम्मिश्रण का ही नहीं भारतीय इतिहास में धार्मिक मनुष्य की सम्पूर्ण मानवीय मुक्ति का अलमबरदार बनकर उपस्थित होता है। अनूदित निबन्ध का दूसरा और उतना ही महत्वपूर्ण पहलू है उपरोक्त चिन्हों को सिक्ख दीक्षा-संस्कार के संदर्भ में देखते हुए सिक्ख धर्म के अनुष्ठान-गत और रीति-गत नवोन्मेष को रेखांकित करना। उस दौर के पंजाब में प्रचलित संन्यासी और सूफ़ी सम्प्रदायों के दीक्षा-संस्कारों का प्रतिलोमन करते हुए सिक्ख दीक्षा-संस्कार नव-दीक्षित को नयी और पुष्ट समाजिकता में दाखिला देते हैं जोकि जाति और शरीयत के बरक्स खुलेपन और नवाचार पर टिकी होती है। ओबरॉय पर्याप्त उदाहरण देते हुए और ऐतिहासिक तथ्यों को पद्धति अनुसार पेश करते हुए ऐसा आख्यान बुनते हैं कि उनके निष्कर्ष अकाट्य या संदेह से परे प्रतीत होने लगते हैं। ओबरॉय के लिए यह उनकी पद्धति की ख़ासियत है कि तमाम ऐसी व्याख्याएँ प्रकाश में आती हैं जो सामने होते हुए भी सही 'तरीके' के अभाव में ऐतिहासिक और अकादमिक बिगूचन तले पोशीदा थीं। चूँकि निबन्ध स्वयं

इतना बोधगम्य और स्पष्ट है कि उसके प्रमुख तर्कों पर और शब्द खर्च करने के बजाए इस बात पर ज़ोर देना चाहूँगा कि भारतीय समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए यह निबन्ध एक मूल्यवान थाती है, जिसे उसके निष्कर्षों के साथ-साथ संरचनावादी (यहाँ चिन्हशास्त्रीय पद्धति) पद्धति के विलक्षण निरूपण के लिए भी पढ़ा जाना चाहिए।

अंत में अनुवाद पर दो बातें रखना चाहूँगा। पाठकगण देखेंगे कि इस अनुवाद में भाषा के स्तर पर उसी मध्यस्थता का प्रयोग किया गया है जोकि ओबरॉय के लिए सिक्ख धर्म की भी ऐतिहासिक भूमिका रही है। यानी हिन्दी-उर्दू शब्दों को एक सूत्र में पिरोते हुए उस ताज़गी को इंगित करना जिसको ओबरॉय भारतीय समाजेतिहास में सिक्ख धर्म के माध्यम से लक्ष्य कर रहे हैं। कहीं-कहीं पर वाक्यों को तोड़ कर उन्हें अधिक सम्प्रेषणीय बनाने की कोशिश की गयी है, पर इसका भी भरपूर प्रयास किया गया है कि मूल पाठ से उल्लेखनीय विचलन न हो। कहीं-कहीं एक ही विचार को स्पष्ट करने के लिए अलग-अलग शब्दों का उपयोग हुआ है। उम्मीद है कि इससे संगति की समस्या खड़ी नहीं होगी और सन्दर्भ के हिसाब से पाठक आसानी से समझ जाएँगे कि अभिप्रेत क्या है। आख़िरी बात यह कि यह अनुवाद प्रसंगतः इस चीज़ से भी जुड़ता है कि भारतीय भाषाओं में समाजशास्त्र की भाषा कैसी हो? ज़ाहिर है यहाँ केवल एक बानगी उपस्थित की गयी है, कोई तर्क या ज़िरह नहीं। ये तो सुधी पाठक और समाजशास्त्र के अभ्यासी तय करें कि इस बहाने समाजशास्त्र की भाषा पर कोई बहस खोली जा सकती है अथवा नहीं। इन बातों के साथ प्रो जीत पाल सिंह ओबरॉय के इस विलक्षण निबन्ध को आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

सन्दर्भ

ओबरॉय, जेपीएस (2019): "स्वराज इन आइडियाज़ ऑफ़ गॉड, मैन एंड नेचर", *माइंड एंड सोसाइटी: फ्रॉम इंडियन स्टडीज़ तो जनरल सोशियोलॉजी* (संपादक: ख़ालिद तैयबजी), ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली; 8-10.

ओबरॉय, जेपीएस. (1999). 'द फ़ाइव सिंबल्स ऑफ़ सिक्खिज़्म', *रिलिजन सिविल सोसाइटी एंड द स्टेट*, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू डेल्ही; 1-18.

सिक्ख धर्म के पाँच प्रतीक

- **जीत पाल सिंह ओबरॉय**
(**अनुवाद – सौम्य मालवीय**)

मानवीय दुनिया और सम्बन्धों को मानव मात्र के स्तर पर लाना [या पुनर्स्थापित करना] ही समस्त मुक्ति का सार है।

मार्क्स 1843: 168

चिन्हशास्त्रीय अध्ययन पद्धति

अगर मौजूदा अमल और ज़ाहिरा तफ़सील की बात करें तो लंबे और बग़ैर काटे हुए बाल (*केश*) रखना किसी व्यक्ति के सिख पंथ के अनुयायी होने का सबसे महबूब और विशिष्ट निशान है, और ऐसा प्रतीत होता है कि हमेशा से ऐसा ही रहा आया है। केश कटवाने पर स्पष्ट मनाही प्रारम्भिक दौर से सिख धर्म की चार प्रमुख वर्जनाओं (*कुरेहत*) में से एक रही है, जिन्हें दीक्षा के अनुष्ठान में नव-दीक्षित के मन पर अंकित कर दिया जाता है। साथ ही बग़ैर काटे हुए बाल उन पाँच प्रतीकों में से एक है जिन्हें एक सिख को हमेशा अपनी देह पर पहन कर रखना होता है। इसके बावजूद सिख-अध्ययन के क्षेत्र में इस रवायत के उद्भव और महत्व को समझाने और व्याख्यायित करने के प्रयास न के बराबर हुए हैं (एक उल्लेखनीय अपवाद के तौर पर देखें कपूर सिंह 1959: 53-107)। चूँकि एक धार्मिक व्यवस्था, यानी विचार और व्यवहार के ढंग और क़ायदे के रूप में सिख धर्म अपने प्रमुख सद्धांतों और सामान्य रुझान में अनुष्ठान विरोधी है इसलिए वे न्यूनतम और अपरिहार्य अनुष्ठान एवं संस्कार जो सांस्थानिक-सामाजिक पक्षों में इससे जुड़े हुए हैं, अपने आप में गहरी रुचि के होने चाहिए। साथ ही, एक समग्रता में देखते हुए सिख धर्म की प्रकृति और उसके पाँच प्रतीकों, जिनमें बिना बाल कटाये रहने की ख़ास प्रथा भी शामिल है, के बीच सम्बन्धों का हमारा विश्लेषण सैद्धांतिक और आनुभविक धरातल पर तुलनात्मक जज़्बे से लैस होना चाहिए। वह भी ऐसे पद्धतिमूलक नियमों का सहारा लेते हुए जिन्हें सार्वभौमिक रूप से प्रयोग में लाया जा सके। यदि ऐसा होगा तो हम अपेक्षा कर सकते हैं कि न केवल हमारी तदर्थ समस्या पर बल्कि धर्म के समाजशास्त्र से सम्बद्ध व्यापक समस्याओं पर भी रौशनी पड़ेगी। जैसेकि धर्म के क्षेत्र में नवाचार और उसके सामाजिक संस्थानीकरण की समस्या नए सिरे से आलोकित होगी।

स्वयं अपनी बात करूँ तो इन पन्नों में विचारणीय समस्या की मैं मुकम्मल ढंग से पड़ताल नहीं कर पाया हूँ। कुछ हद तक ऐसा इसलिए कि ऐसी पड़ताल करने के लिए जैसा भाषाई सामर्थ्य चाहिए, ताकि मूल पंजाबी में उपलब्ध एवं अन्य संदर्भों का अध्ययन किया जा सके, वह मेरे पास नहीं है। बग़ैर इन संदर्भों की सीधी जाँच किए संतोषजनक रूप से आगे बढ़ पाना संभव नहीं है। इस अध्ययन में प्रस्तुत तर्क और व्याख्या पूरी तरह से अंग्रेज़ी में में उपलब्ध जानकारी पर आधारित है, और सेकंड-हैंड संदर्भों पर, जोकि अधूरे और त्रुटिपूर्ण हो सकते हैं, अपनी निर्भरता के लिए मैं पहले ही माफ़ी माँगता हूँ। इसके बावजूद मुझे उम्मीद है कि वह चिन्हशास्त्रीय पद्धति और तफ़सीरी नज़रिया जिसका मैं इस्तेमाल करूँगा कुछ उत्सुकता ज़रूर पैदा करेंगे। ऐसा इसलिए कि गवेषणा के पथ में जो निष्कर्ष हासिल होते हैं या हो सकते हैं वे केवल समीक्षित साक्ष्य या उसकी प्रामाणिकता पर ही नहीं, विश्लेषण और व्याख्या की पद्धति पर भी निर्भर करते हैं।

यहाँ जो विशेष पद्धति अपनाई गई है और जिसे चिन्हशास्त्रीय पद्धति के एक रूप की तरह संरचनात्मक पद्धति कहा जा सकता है, उसके तहत समुचित सैद्धान्तिक समझ और व्याख्या के लिए किसी अनुष्ठानिक प्रथा या संस्कार को दो अंतर्संबद्ध पक्षों की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। हमें कोशिश करनी चाहिए कि सम्बन्धित प्रथा या संस्कार के बारे में यह चीज़ें निश्चित कर लें (*क*) ख़ास सांस्कृतिक और सांकेतिक वैचारिक शैली के भीतर उसका सैद्धांतिक और विचारधारात्मक अर्थ (*ख*) व्यवहार की ख़ास परिपाटी और सामूहिकताओं और श्रेणियों की विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था के भीतर उसका प्रभाव और सामाजिक उपादेयता, ये उम्मीद करते हुए कि ये (बिन्दु *क* और *ख*) सम्मिलित रूप से (*ग*) व्यक्तित्व, संस्कृति और सामाजिक संगठन के सिद्धांतों को स्पष्ट करेंगे। यहाँ ऊपर उल्लेखित अंतर्संबद्ध पक्ष इस प्रकार हैं। पहला पक्ष विचार और मान्यता का है।यहाँ प्रमुख मुद्दा, प्रथा या संस्कार को एक संघनित वक्तव्य की तरह देखने का है। यानी कुछ लाक्षणिक सांस्कृतिक तथ्यों, विचारों और मूल्यों की सांकेतिक अभिव्यक्ति की तरह। दूसरा पक्ष संस्थानीकृत व्यवहार या सामाजिक क्रिया से संबद्ध है। यहाँ हम अनुष्ठान अथवा धार्मिक विधान और उसके निर्वाह के संदर्भ को समुदाय की व्यापक सामाजिक व्यवस्था और उन व्यक्तियों की श्रेणी से जोड़ कर देखते हैं जो उसे निभाने को कर्तव्यबद्ध हों। पहले और दूसरे, दोनों पक्षों के संदर्भ में हम किसी संस्कार-रीति को पृथक कर के नहीं देखते। बल्कि यह ज़हन में रखते हैं कि उसे उन दूसरी संस्कार-रीतियों से जोड़कर देखना चाहिए जिनसे वह विचार और जीवन में संबद्ध होती है। साथ ही विश्लेषण के दोनों (पहले और दूसरे) स्तरों पर समुचित समझदारी बनाने के लिए हम अंश को सम्पूर्ण से, हिस्से को ढांचे से जोड़कर देखते हैं। जब किसी विशेष संस्कृति या

समाज के संदर्भ में ये प्रारम्भिक क़दम लिए जा चुके हों, निस्संदेह सामान्य सैद्धांतिक विचारों के आईने में, तो हम पुख़्ता तौर पर दो या दो से ज़्यादा संस्कृतियों में पाई जाने वाली मिलती-जुलती संस्कार-रीतियों या एक ही संस्कृति के भीतर विभिन्न ऐतिहासिक चरणों पर एक ही संस्कार-रीति के अर्थों और प्रभावों या उसकी सामाजिक उपादेयता की तुलना कर सकते हैं।

तो हमारी पद्धति की केन्द्रीय प्रस्थापना क्या है? उपरोक्त दो पहलुओं या विचार और व्यवहार के स्तरों, जिनमें हमने विश्लेषण की सुगमता के मद्देनज़र भेद किया है, को एक साथ रखते हुए हम इसे कुछ इस तरह रूपायित कर सकते हैं – सभी अनुष्ठान और रीतियाँ अपनी प्रकृति में निर्मितिपरक, अभिव्यक्तिपूर्ण और तस्दीक़ी होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि वे अमूर्त अर्थों, तथ्यों और मूल्यों को मूर्त रूप में स्पष्ट, साकार और संप्रेषित करते हैं। कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि कर्मकाण्डों के एक समुच्चय का अनिवार्य और बार-बार दोहराया जाने वाला सामाजिक निर्वहन लोगों के सामुदायिक जीवन और विचारों को एक निश्चित स्वर और स्वरूप देता है। दूसरों के लिए और ख़ुद उनके अपने लिए यह उनकी संस्कृति की विशिष्ट अभिरचना की संरचनात्मक सुसंगति को प्रतिष्ठित, प्रस्तुत और पुष्ट करता है। उनके विचार और सामाजिक ढाँचे को कुछ-कुछ भाषा की तरह एक व्यवस्थित पूर्णता प्रदान कर इस अभिरचना का पीढ़ी दर पीढ़ी प्रसार, पोषण और विकसन करता रहता है। संक्षेप में ये प्रभाव संयुक्त रूप से, हमारे प्रमुख सैद्धांतिक मत के तहत, अनुष्ठानिक व्यवहार और सांकेतिक विचार-व्यवस्था के घटक और कारक तत्व हैं।

जिसने भी यह प्रयास पहले किया है उसे यह सहज ही स्पष्ट होगा कि किसी संस्कार रीति के सटीक अर्थ, प्रभाव और सामाजिक प्रकार्य की पड़ताल करना एक जटिल और दुष्कर काम है। यह कुछ-कुछ वैसी ही प्रक्रिया है जैसे किसी भाषा के व्याकरण और विन्यास को निश्चित करने का प्रयास करना। उसकी शब्द-सम्पदा का नहीं उसकी संरचना का पता लगाना, जोकि ध्यातव्य हो कि केवल सामान्य समझ के आधार पर या उस भाषा के मूल भाषी से प्राप्त सूचना के आधार पर नहीं लगाया जा सकता। ऐसा इसलिए क्यूँकि कम से कम कोई अनुष्ठान, यदि अन्य प्रथाओं को छोड़ दें तो भी, एक आन्तरिक संरचना के क़ाबिल होता है और अपने भीतर तमाम अमूर्त अर्थ और सामाजिक संदर्भ समोए रहता है। साथ ही यह अमूर्त अर्थ और सामाजिक संदर्भ जीवन की चेतन सतह से सहज प्राप्य नहीं होते, बल्कि एक तरह से कहें तो उन्हें व्यक्तिगत या सामुदायिक अवचेतन या अचेतन से खींचकर निकालना पड़ता है। इसलिए अध्ययन के इस क्षेत्र में विशेष रूप से ज़रूरी है कि हम सहज बोध या निगमनात्मक तर्कणा या

सामान्य समझ के आधार निकाले गए निष्कर्षों से किनारा कर के स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट पद्धति के नियमों पर दृढ़ रहें।

चिन्ह, पंथ और दीक्षा-संस्कार

पुरुषों के केश, विशेष कर लंबे केशों और जादुई एवं पवित्र विचारों के सांस्कृतिक जुड़ाव की बात दुनिया के कई हिस्सों में देखने में आती है। यह सुपरिचित है कि सामान्य अर्थों में इसे मर्दानगी, पौरुष, प्रतिष्ठा, शक्ति और आक्रामकता इत्यादि के प्रतीक के रूप में लिया जाता है। उदाहरण के लिए बहुत पहले के यूरोप में एकियन लोग, जिन्होंने यूनान पर कब्ज़ा किया था, अपने बाल प्रथानुसार लंबे और निरंकुश रखा करते थे। पुराने विधान में वर्णित सैमसन और डेलाइला की सेमिटिक कथा भी केश न कटवाने के नैतिक महत्व को अच्छी तरह से दर्शाती है। शास्त्रीय हिन्दू धर्म में भी हमें ऐसे कई उदाहरण आसानी से दृष्टव्य होते हैं। मनु के विधान भी साफ निर्दिष्ट करते हैं: 'चाहे कोई व्यक्ति कितना भी आक्रोशित हो, उसे दूसरे को केश से नहीं पकड़ना चाहिए; जब कोई ब्राह्मण कोई ऐसा अपराध करे जिसे अंजाम देने पर किसी अन्य जाति के सदस्य को मृत्यु का भागीदार माना जाए, तो उस ब्राह्मण के बाल मूँड़ देने को पर्याप्त सजा के रूप में देखा जाना चाहिए।'

हालाँकि हमें यह सावधानी पूर्वक याद रखना चाहिए कि सभी पवित्र या वर्जित वस्तुओं की तरह लम्बे केश भी एक एकदम विपरीत लक्ष्यार्थ रख सकते हैं। लम्बे केशों को विशेषकर तब जबकि वे गंदे और मैले रखे हुए हों, किसी अपवित्र, भयावह या परित्यक्त चीज़ का प्रतीकरूप माना जाता है। अतः हमें अपनी पद्धति के नियमानुसार यथार्थ संदर्भ या परिस्थिति को मद्देनज़र रखना चाहिए ये निश्चित करने के लिए कि किसी विशेष प्रसंग में कौन सा उपरोक्त तत्व प्रधान है।

चीनी चोटी, जो दिखने में हिन्दू शिखा से मिलती-जुलती है, का उदाहरण यह स्पष्ट रूप से बताता है कि केशों की वास्तविक भौतिक स्थिति उनके चिन्हात्मक अर्थ के लिए हमेशा प्रासंगिक तो होती है, पर अपने आप में निर्णायक कारक नहीं होती। चीन पर एक समय शासन करने वाले मांचुओं के विदेशी राजवंश ने 1644 इसवीं में चीनियों की गुलामी के चिन्ह के तौर पर उनके बीच चीनी चोटी को लागू किया था। बाद में चलकर यह एक लाक्षणिक मंदारिन प्रथा बल्कि प्रतिष्ठा के चिन्ह के बतौर स्वीकार कर ली गई। उन्नीसवीं सदी के मध्य में ताइपिंग विद्रोह के दौरान और बीसवीं सदी की शुरुआत में सुन यात-सेन के आंदोलन एवं अन्यों द्वारा चीनी चोटी के मूल अर्थ को याद करते हुए उससे छुटकारा प्राप्त करने का प्रयास किया था। जहां ताइपिंग विद्रोहियों ने अपने केश

लम्बे रखने शुरू कर दिये थे और नतीजन वे 'लम्बे बालों वाले विद्रोही' के लक़ब से जाने गए, वहीं बीसवीं सदी के क्रांतिकारियों ने बाल छोटे कटवा दिये थे, मानो सचमुच उन्होंने अपनी चीनी चोटी को उखाड़ फेंका हो। एक ही आवेग से इन दो बिलकुल अलग नतीजों का निकलना, हमारे अध्ययन की दृष्टि के लिए ग़ैर-ज़रुरी नहीं बल्कि ख़ासी रुचि की बात है।

सिख धर्म में केश कटवाने पर निषेध प्रकट रूप से दीक्षा के संस्कार से सम्बद्ध है और हमें इस संदर्भ को ध्यान में रखते हुए ही उसकी आधारभूत व्याख्या करनी चाहिए। अब दीक्षा-सम्बन्धी हर अनुष्ठान साक्ष्यतः किसी अभिषेक या उपाधि-प्रदान करने के क्रिया की प्रकृति या प्रभाव रखता है। ऐसा इसलिए कि क्योंकि इसके ज़रिये एक नया दर्जा और भूमिका, और तत्संबंधी अधिकार एवं कर्तव्य, एक नये अस्तित्वरूप में प्रवेश कर रहे नवदीक्षित को प्रतीकात्मक रूप से प्रदत्त कर दिये जाते हैं। पर हर दीक्षा-संस्कार में अनिवार्य रूप से एक और तत्व होता है भले ही वह बहुत स्पष्ट तौर पर नज़र न आए। यह तत्व होता है संन्यास या अधिकारहरण का। इसके तहत एक नवदीक्षित अपने पुराने दर्जे और अस्तित्वरूप के गुण या तो स्वयं प्रतीकात्मक ढंग से त्याग देता है या वे उससे ले लिए जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अपने सामाजिक जीवन की पूर्व परिपाटी या चरण का अनुष्ठानिक रूप से परित्याग करने के बाद ही वो सही ढंग से नये में प्रवेश कर सकता है। माना कि दीक्षा-संस्कारों में समान्यतः अभिषेक करने या उपाधि प्रदान करने का सकारात्मक पहलू ज़्यादा हावी रहता है पर संन्यास या अधिकारहरण का तत्व भी किसी न किसी हद तक मौजूद होता ही है। बल्कि भिक्षुत्व या मठ में दीक्षा जैसे संदर्भों में यही नकारात्मक तत्व आला-तरीन होता है।

अब मैं ऐसे ही दीक्षा संस्कारों के वर्ग की तरफ़ ध्यान खींचना चाहूँगा जो पंजाब और अन्य जगहों पर उस काल में जब सिख धर्म का अभ्युदय हुआ व्यापक रूप से प्रचलित थे। यह संन्यास से जुड़े अनुष्ठान थे जिनके अनुपालन द्वारा कोई व्यक्ति किसी न किसी मध्यकालीन भिक्षुक सम्प्रदाय की दीक्षा ले सकता था। मेरा ऐसा मानना है कि सिक्ख दीक्षा संस्कारों को ज़ेरे-ज़ेहन रखते हुए इस वर्ग के अनुष्ठानों का परीक्षण करने पर इन दोनों के बीच संरचनात्मक-प्रतिलोमन के विलक्षण सम्बन्ध के होने का पता चल सकता है। मैं यह सुझाव सामने रखना चाहता हूँ कि उस काल की प्रतीकात्मक भाषा और अनुष्ठानिक मुहावरे के हिसाब से सिक्ख दीक्षा-संस्कार का कम से कम एक सांस्कृतिक अर्थ या प्रभाव यह था कि वह हिन्दू-संन्यास के अनुष्ठानों के विपरीतार्थी या विलोम रूप में अवस्थित था।

एक संन्यासी वह व्यक्ति होता है जो ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म के पहले तीन आश्रमों से गुज़र कर जगत का परित्याग कर देता है और उसकी देखभाल की ज़िम्मेदारी दूसरों पर होती है। यह संभव है कि संन्यासी धार्मिक संप्रदाय संन्यास के ब्राह्मणवादी संस्थानीकृत रूप, जिसके तहत वह जीवन का चौथा और आख़िरी चरण माना जाता है, से पहले से विद्यमान रहे हों। जो भी हो, ये संप्रदाय किसी भी उम्र के व्यक्ति के लिए प्रवेश के लिए खुले रहे होंगे। बौद्ध कालीन युग के दौरान इन संन्यासी सम्प्रदायों का निस्संदेह रूप से पतन हो चुका था जो उसके बाद प्रायः अशास्त्रीय मतों वाले उप-सम्प्रदायों में बंटते चले गए। शंकराचार्य ने फिर उनका उद्धार किया, जिनके चार प्रमुख अनुयायियों ने चार मठों की स्थापना की जिनका अनन्तर अनेकों पदों में विकास हुआ। हर पद दो संघटकों से बना कहा जाता था, एक ब्रह्मचारी और भिक्षुक, और दूसरा नहीं। साथ ही सभी व्यक्तिगत संन्यासी बढ़ती पवित्रता के अनुसार चार श्रेणियों में रखे जाते थे (कविचर, बहोदक, हँस, परमहँस)।

संन्यासी दीक्षा-संस्कार का प्रारूप पहले भी और अभी भी इस प्रकार है (यहाँ प्रस्तुत नृजातीय वर्णन रोज़, 1911 और 1914 से प्राप्त किया गया है, जिसका संग्रहण पंजाब की जनगणना रिपोर्ट, 1883 और 1892 पे आधारित है)। संन्यास प्राप्त करने के प्रार्थी को पहले तीर्थाटन पर निकल कर कोई गुरु, जोकि ब्राह्मण हो, ढूँढना होता है। उसके बाद गुरु अपनी तरफ़ से शिष्य की पात्रता और योग्यता सुनिश्चित करने के उपरांत उसे दीक्षित करता है। नव-दीक्षित फिर अपने पुरखों के प्रति अपने दायित्व-निर्वाह के लिए श्राद्ध संस्कार का सूत्रपात करता है। तत्पश्चात वह त्यागोन्मुख बाजी हवन का आयोजन करता है और उसके आधिपत्य में जो भी चीज़ होती है उसका त्याग कर देता है। इस तरह से सामाजिक जगत से उसके सभी सम्बन्धों का विच्छेद हो जाता है। उसकी दाढ़ी, मूँछ और सर के बाल (एक शिखा छोड़कर) पूरी तरह मूँड़ दिए जाते हैं (मुंडन) और जनेऊ परे हटा दिया जाता है। फिर वह आत्म-श्राद्ध या अपना ही मृत्यु-संस्कार करता है। (एक दीक्षित संन्यासी को सामाजिक रूप से मृत के तौर पर गिना जाता है। जब वह भौतिक रूप से मरता है उसका दाह-संस्कार नहीं किया जाता बल्कि बिना किसी और अनुष्ठान के उसे बैठी हुई मुद्रा में ही गाड़ दिया जाता है)। उसके बाद सर की शिखा भी काट दी जाती है और कटी हुई शिखा और जनेऊ हाथ में लिए नव-दीक्षित किसी नदी या किसी और जल-स्रोत में प्रवेश करता है और दोनों को फेंक देता है। ऐसा करते हुए वो यह प्रण करता है कि, 'मैं किसी का नहीं हूँ और न ही कोई मेरा है'। पानी से निकल कर वह नग्न अवस्था में ही उत्तर दिशा में चल पड़ता है पर गुरु उसे रोकता है और नव-दीक्षित की निजी सम्पत्ति से हटा कर रखी गयी निम्न चीज़ें उसे सौंपता है: एक कोपीन

(लँगोट), डंडा और जलपत्र। आख़िर में गुरु नव-दीक्षित को गोपनीय रूप से मंत्र देता है और उसे विशिष्ट मठ, सम्प्रदाय इत्यादि में शामिल कर लेता है। (रोज़ 1914: 358)।

मध्यकालीन पंजाब में काफ़ी फैले हुए जोगी सम्प्रदाय का दीक्षा-संस्कार भी बहुत हद तक ऐसा ही हुआ करता था। पंजाब जनगणना रिपोर्ट 1912 के अनुसार, 'जोगी' दरअसल योगी का ही अपभ्रंश है, यानी वह पद जो मूल रूप से योगाभ्यास में दक्ष संन्यासियों के लिए इस्तेमाल किया जाता था।

जोगी दरअसल संन्यासियों की ही एक शाखा हैं। इस सम्प्रदाय की स्थापना गुरु मच्छन्दर (मत्सयेन्द्र) नाथ और गोरख नाथ संन्यासियों ने की थी। वे योगाभ्यास को समर्पित थे और अद्‌भुत चमत्कारिक शक्तियों के स्वामी थे। गुरु गोरख नाथ के अनुयायी वेदों एवं अन्य धार्मिक साहित्य के अध्ययन से ज़्यादा योग क्रियाओं में रमे रहते थे। हालाँकि एक खरे और अच्छे जोगी और एक योगी संन्यासी में कोई विशेष अंतर नहीं होता, सिवाय इसके कि इनमें से पहले अपने कानों में मुद्रा (छल्ले) पहनते हैं। जोगी शिव के सबसे भयानक रूप भैरों के उपासक होते हैं (हरि किशन कौल, *पंजाब जनगणना रिपोर्ट*, 1912, रोज़ 1914: 361 में उद्‌धृत)। [उनके प्रमुख उप-विभाजन दर्शनी और कनफट्टा (फटे हुए कान वाला) बताए जाते हैं, यानी वे नाथ जो मुद्रा (कान की बाली या छल्ले) पहनते हैं; और औघड़ जो नहीं पहनते।]

जोगी दीक्षा-संस्कार में नव-दीक्षित या चेले को आरंभ में पहले दो-तीन दिनों तक पूर्ण उपवास पर रखा जाता है। उसके बाद धरती में एक चाकू गाड़ी जाती है, और चेला उसपर शपथ लेता है कि वह क) व्यापार में संलग्न नहीं होगा, ख) कोई रोज़गार नहीं करेगा, ग) ख़तरनाक हथियार नहीं रखेगा, घ) अपने साथ दुर्व्यवहार किए जाने पर भी आक्रोशित नहीं होगा, और ङ) विवाह नहीं करेगा। वह अपने कानों की भी पूरी निष्ठा के साथ रक्षा करेगा, क्योंकि 'वह जोगी जिसके कान कट जाते थे उसे ज़िंदा दफ़्न कर दिया जाता था, लेकिन अब केवल बहिष्कृत किया जाता है'। गुरु के द्वारा नव-दीक्षित की शिखा हटा दी जाती और नाई द्वारा हजामत बनाई जाती; उसका उपवीत भी हटा दिया जाता। उसके बाद वो नहाता और तत्पश्चात उस पर राख मली जाती और पहनने के लिए, कफ़नी के साथ, गेरुए वस्त्र दिए जाते। गुरु-मंत्र गुप्त रूप से बताया जाता है जिसके बाद चेला परिवीक्षाधीन या *औघड़* माना जाता। कई महीनों की परख के बाद उसके कान छेदे जाते और कानों में गुरु या किसी और सिद्ध द्वारा छल्ले पहनाए जाते। छल्ले पहनाने वाला को सवा रुपये का चढ़ावा दिया जाता। 'चेला, जो अब तक औघड़ था कुछ निश्चित वाक्यांशों (मंत्र नहीं) के उच्चारण के साथ नाथ बन जाता' (रोज़ 1911: 400)। जोगी 'तत्वों' में धरती (मिट्टी) या मिट्टी से बनी चीजों का सबसे अधिक सम्मान करते। 'मिट्टी का बिस्तर, मिट्टी का घड़ा, मिट्टी का तकिया और मिट्टी की छत', यह एक कहावत है जो जोगियों के जीवन को अभिव्यक्त करती है। संन्यासियों की तरह जोगियों का भी दाह-संस्कार करने के बजाए उन्हें दफ़्नाया जाता।

रतन नाथ जोगियों पर मिले एक वर्णन के अनुसार, उनके बीच गुरु के द्वारा इक्षुक तालिब को उस्तरा और कैंची थमाया जाता, एक तरह से संप्रदाय में शामिल होने से पहले आगाह करने के लिए। अगर तालिब फिर भी अपने निश्चय में दृढ़ रहता तो गुरु उसके बालों का एक गुच्छा काट देता और फिर उसे नाई द्वारा मूँड़ दिया जाता। उसे नहलवाया जाता, उस पर राख मली जाती और फिर एक कफ़नी, एक लँगोटी और टोपी पहनने को दी जाती। 'राख और कफ़नी स्पष्टया ये दर्शाते हैं कि वो दुनिया के लिए मृत हो चुका है'। छः महीनों की परख के बाद उसके कान छेद दिए जाते और उनमें माटी की बालियाँ पहना दी जातीं (रोज़ 1911: 401n)।

अपने दीक्षा-संस्कार के बाद, एक जोगी या तो ब्रह्मचारी और तपस्वी भिक्षुक बना रहता एवं भिक्षा पे जीवित रहता (और नंगा, नागा, नदी, निहंग या कनफट्टा के नाम से जाना जाता); या पलट कर एक भौतिक जोगी बन जाता और परिणामतः संपत्ति रखता एवं विवाह कर लेता (और बिंदी-नागी, संयोगी, घरबारी या गृहिस्ती कहाता)। एक जोगी आमतौर पर कोई न कोई पंथ या 'दरवाजा' (उप-सम्प्रदाय), जिनकी पारम्परिक रूप से संख्या बारह बताई जाती है, में शामिल हो जाता था।

आख़िर में मैं दादूपंथी संप्रदाय के दीक्षा-संस्कार का उल्लेख करना चाहूँगा। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय की स्थापना दादू ने की थी; दादू, जोकि एक गौड़ ब्राह्मण थे और जिनका निधन 1703 इसवीं में हुआ था। इस संस्कार में सभी साधुओं की उपस्थिति में गुरु नव-दीक्षित की शिखा काट देता और उसके सिर को कापाली, वैसी ही जैसाकि कहा जाता है कि दादू पहनते थे, से ढँक देता था। नव-दीक्षित को फिर गेरुए वस्त्र पहनने होते और उसे गुरु-मंत्र सिखाया जाता, 'जिसे वह किसी भी हाल में उद्घाटित नहीं कर सकता' (रोज़ 1911: 215f)। दादूपंथी दीक्षा-संस्कार मिठाइयों के वितरण से समाप्त होता था। कुछ विवरणों के सहारे ऐसा भी कहा जाता है कि दादू दारा शिकोह के समकालीन थे और कुछ और विवरण उन्हें गुरु गोबिन्द सिंह का समकालीन बताते हैं। गुर-बिलास में गुरु गोबिन्द सिंह की एक दादूपंथी के साथ मुलाक़ात की रोचक कहानी प्राप्त होती है (देखें इंदुभूषण बैनर्जी 1962: 94f)।

आगे बढ़ते हुए, ऐतिहासिक समाजशास्त्र के किसी भी उद्यम में, 'ग्रंथ-केन्द्रित दृष्टि', जो ग्रन्थों को प्राथमिकता देती है, चाहे वे शास्त्रीय हों, मध्य-युगीन या आधुनिक, बनाम 'क्षेत्र-कार्य केन्द्रित' दृष्टि, जो संस्थानों और व्यवहार के अवलोकन पर आश्रित होती है, दोनों से मुठभेड़ ज़रूरी है। इस संदर्भ में प्राच्यवादी यान गोंडा का दीक्षा पर लिखा ग्रंथ भी कोई दीगर कहानी नहीं कहता। क़ाबिल-ए-ग़ौर हो कि ये ग्रंथ हिन्दू दीक्षा संस्कार या पवित्रीकरण, जो "दूसरे धर्मों में बप्तिस्मे और 'बिस्मिल्लाह' के समकक्ष है", पर केन्द्रित है

(1965: 315-462)। यहाँ भी वही तत्व और सम्बन्ध प्रकट होते हैं जैसे जनगणना सर्वेक्षणों में, जिन्हें मैंने अवलोकन और पर्यवेक्षण पर आधारित माना है, और सम्मिलित रूप से वे भी वही संदेश देते हैं। मेरी निगाह में गोंडा जो ऐतिहासिक-भाषावैज्ञानिक पद्धति अपनाते हैं ज़्यादा काम की चीज़ करते अगर वे निम्न की परस्पर तुलना करके देखते: (क) वेदकालीन विद्यार्थी का उपनयन संस्कार (एक ब्राह्मण के जीवन में श्रेणी-परिवर्तन का सूचक जनेऊ संस्कार, हालाँकि ऋग्वेद में दीक्षा का उल्लेख नहीं मिलता है), ख) संन्यास या भिक्षुत्व में दीक्षित होना, 'पूर्ण परित्याग', उदाहरण के लिए बौद्ध संप्रदाय या संघ में, और ग) राजा का अभिषेक। पर जो है उसी से काम चलाना पड़ेगा इसलिए मैं सीधे-सीधे वही उद्धृत कर देता हूँ जो गोंडा कहते हैं, शास्त्रीय या प्राचीन ग्रन्थों, उपनिषदों के साथ-साथ धार्मिक त्रय शैव, वैष्णव या तंत्र के मध्ययुगीन ग्रन्थों को बराबर का महत्व देते हुए।

अब [अगर प्राचीन काल की बात करें], रोचक बात है कि कुछ बाद के उपनिषद [संपा. एफ़.ओ. श्रेडर] जो इन भटकते भिक्षुओं और उनके जीवन की दशा से संदर्भित हैं, उनके लिए एक विशेष दीक्षा-अनुष्ठान को आवश्यक बताते हैं। हालाँकि इस अनुष्ठान से सम्बन्धित विवरण अलग-अलग पाठों में अलग-अलग मिलते हैं, पर इसका महत्व स्पष्ट है: यह केवल घरेलू-जीवन का ही नहीं बल्कि वैदिक सामाजिक-धार्मिक आचार व्यवस्था, जिसके तहत ब्राह्मणों द्वारा संस्थापित किए गए धर्म के अनुसार गृहस्थ-जन अपना जीवन संचालित करते थे, का अनुष्ठानिक नकार है...दुनियावी चीज़ों के प्रति उदासीनता (*वैराग्य*) और व्यक्ति एवं ब्राह्मण के एकत्व का बोध [जीवात्मा और विश्वात्मा का एका] ही एक व्यक्ति को सच्चा संन्यासी बनाते हैं। पर जीवन की इस अवस्था में, जैसे जगत में जीवन की अन्य अवस्थाओं में भी, बिना "दीक्षा-संस्कार" के प्रवेश नहीं किया जा सकता।

उदाहरण स्वरूप तथाकथित संन्यास-उपनिषद की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है जिसका अनुवाद उस वक़्त पॉल डॉउसन ने किया था।

...वह व्यक्ति जो जीवन के सामान्य चरणों (आश्रमों) के परे जाने की इक्षा रखता है उसे अपने आपको वैदिक मंत्रों से शुद्ध करना चाहिए। उसे, एक आख़िरी बार, अरण्य में अपने पुरखों की प्रतिष्ठा में बलिदान देना चाहिए...इस अनुष्ठान के साथ दुनिया से विदा लेने के बाद वह तीनों यज्ञ-अग्नियों को स्वयं में अवस्थित कर लेता है।

...गृहस्थ जो *आश्रमवासी* हो और एक [दीक्षित] संन्यासी के बीच...जो भूरे-लाल जोगी की आदतें रखता हो, काँख और पेट से बाल हटा लेता हो और अपने हाथ खड़े रखता हो, के अंतर के मद्देनज़र ये दो प्रथाएँ बार-बार देखने में आती हैं: हजामत और परिधान...परमहँस-उपनिषद के अनुसार (2) श्रेष्ठतम योगी को डंडे, कपड़ों, शिखा और जनेऊ के बिना रहना चाहिए। सच्चा संन्यास हालाँकि जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैतानुभूति में निहित होता है।

जैसाकि हम आगे देखेंगे कुछ तांत्रिक दीक्षा संस्कारों में, जिनकी जानकारी हमें बाद के कुछ सूत्रों से मिलती है, स्वयं अपना अंतिम-संस्कार करना शामिल होता था। यहाँ ये याद कर लेना ठीक रहेगा कि

शास्त्रीय सोम यज्ञाहुति से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थों में आत्म-बलिदान या प्रतिष्ठित यजमानों या अन्य प्रतिष्ठित लोगों के बलिदान अथवा मृत्यु के स्पष्ट संकेत होते हैं। कुछ इस तरह..."वस्तुतः आत्म को उपहार की तरह लेते हुए वे स्वर्ग की दुनिया की ओर कूच करते हैं"।

भक्तिमय जीवन में दीक्षा की ज़रूरत को वैष्णववाद ने बहुत सघनता से महसूस किया था...वैष्णववाद में प्रथम प्रवेश को पंच-संस्कार अनुष्ठान कहते हैं। इस संस्कार का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा वह होता है जिसमें मूलमंत्र और द्वय मंत्र को, जोकि सभी श्री वैष्णवों के लिए पवित्र और बेहद ज़रूरी होते हैं, नव-दीक्षित के दाएँ कान में इतनी धीमे स्वर में कहा जाता है कि उसके अलावा और कोई न सुन सके।

वराह-पुराण के संग्रहकर्ता...उस स्थिति की चर्चा करते हैं जब प्रत्याशी ब्राह्मण नहीं होता। एक क्षत्रिय जिसे इस अनुष्ठान के प्रति स्वयं को समर्पित करना है उसे अपने सभी शास्त्रों का त्याग करना पड़ेगा...ठीक उसी तरह एक वैश्य को भी को भी अपने पारम्परिक जीवनशैली का त्याग कर के ईश्वर सम्बन्धी अनुष्ठानों में लग जाना चाहिए...एक शूद्र जो विष्णुदीक्षा की प्रक्रिया से गुज़रता है वो सभी पापों से मुक्त हो जाता है...सभी व्यक्ति, शूद्रों समेत, राममंत्र का पारायण कर सकते हैं।

शैव-मतवाद की सभी शाखाओं में दीक्षासंस्कार एक बहुत महत्वपूर्ण अनुष्ठान माना जाता है। अपनी पारलौकिक यात्रा के दौरान, जब आत्मा शुद्धता की उस चरम अवस्था तक पहुँच जाती है कि वह सर्वज्ञता की ओर उन्मुख हो सके – और परिणामतः मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो सके – भगवान शिव अपने आप को एक अंतर्प्रकाश या गुरु की तरह प्रकट करते हैं और अपनी अनुकम्पा का विस्तार करते हुए आत्मा को शिक्षित करते हैं...इसीलिए अवैदिक शैवों की यह आस्था होती है कि जिस किसी को *शैवी दीक्षा* नहीं मिली उसे मोक्ष भी नहीं मिल सकता...तत्पश्चात आत्मा सांसरिक जीवन से विरक्त होकर मोक्ष प्राप्ति की धुन में लग जाती है। वह एक सक्षम गुरु को ढूँढती है, जो उसे दीक्षा देती है और अंततः उसे सभी पाशों से मुक्त कर देती है और इस तरह मल की भ्रष्ट करने वाली शक्ति को नष्ट कर देती है। अतः दीक्षा मुक्ति की सबसे अनिवार्य शर्त मानी जाती है। यह आत्मा के *पशुत्व* को हटाकर उसके निष्कलुष *शिवत्व* या दैवीय स्वभाव को पुनर्स्थापित करती है (गोंडा 1965: 377ff, 384, 398, 401f, 409, 418f, 429, 433)।

सिक्ख दीक्षा संस्कार और उसके पाँच प्रतीक

मेरी दृष्टि के अनुसार, साक्ष्यों की रोशनी में इस बात में ज़रा भी संदेह नहीं होना चाहिए कि सिक्ख दीक्षा संस्कार के तहत केश काटने पर निषेध (कुरेहत) जोगी, संन्यासी इत्यादि दीक्षा संस्कारों में आदेशित सम्पूर्ण मुंडन की रवायत का संरचनात्मक दृष्टि से विशिष्ट प्रतिलोमन है। सांकेतिक प्रतिलोमन का यह तत्व, जैसाकि मैं रेखांकित कर रहा हूँ, हक़ीक़त में बहुत व्यापक है, पर इसकी पूरी तरह से अवहेलना कर दी गयी है। ऐसा इसलिए हुआ है क्योंकि धर्म के अध्येताओं के बीच एक ख़ास प्रवृत्ति या विद्वतापूर्ण पद्धति एक शग़ल के रूप में व्याप्त है। इसके तहत वे प्रत्यावर्तन, मिलान, प्रतिमिलान, प्रतिलोमन और विरोध के महत्वपूर्ण सम्बन्धों को नज़रंदाज़ करते हुए समांतरता और समानता ढूँढने पर ही तुले रहते हैं (उदाहरण के लिए यह नज़रंदाज़ी वैन गेनेप 1960

:97 में साफ़ तौर पर नुमायां होती है, और यही पद्धति कपूर सिंह 1959: 85ff में भी अपनाई गई है)। जोगी या संन्यासी अनुष्ठान में नग्नता और भभूत लपेटने की अनिवार्यता के विपरीत सिक्ख नव-दीक्षित या नवसिक्खिए को अनुष्ठान के लिए साफ़-सुथरे कपड़ों में तैयार होकर आना होता है। कान के छल्ले जो एक जोगी को धारण करने होते हैं उसके लिए विशेष रूप से निषिद्ध होते हैं (तेजा सिंह 1938: 113)। संन्यासी की शपथ, 'न मैं किसी का हूँ, और न कोई मेरा है' की जगह सिक्ख संस्कार, जो एक नए जन्म की धारणा पर ज़ोर देता है, एक नव-दीक्षित से अपेक्षा करता है कि वह सवालों के जवाब में ये कहे कि उसके पिता गुरु गोबिन्द सिंह हैं और उसकी माँ माता साहिब कौर हैं, और यह कि वह केशगढ़ में पैदा हुआ और आनन्दपुर में रहता है। इससे भी महत्वपूर्ण यह कि दीक्षा देने वाला कोई अकेला गुरु न हो कर के एक समूह होता है, किन्हीं पाँच नीतिवान सिक्खों से बना 'पंज प्यारों' का समूह। इसके बजाए कि गुरुमंत्र नवदीक्षित के कान में अकेले में और चुपके से कहा जाए, जैसाकि संन्यासियों, जोगियों या दादूपंथियों के बीच होता है, सिक्ख गुरुओं की बानी दीक्षाकर्ताओं द्वारा सार्वजनिक जमावड़े में ऊंची और साफ़ आवाज़ में कही जाती है। अंततः, कभी हथियार न छूने की जोगिया शपथ के विपरीत, नव-सिक्खिये को संस्कार के तहत बक़ायदे एक कृपाण से नवाज़ा जाता है जोकि उन पाँच 'क' में शामिल है जिन्हें एक सिक्ख को दीक्षा-संस्कार के पश्चात सदैव पहन कर रखना होता है।

मेरे ख़्याल से ये बिला-झिझक कहा जा सकता है कि सिक्ख दीक्षा-संस्कार में सिक्ख धर्म के पूर्ववर्ती मध्ययुगीन भिक्षु सम्प्रदायों द्वारा क़ायम किए गए सामाजिक परित्याग के अनुष्ठानों के प्रतिलोमन का मौजूं असंदिग्ध तौर पर निहित होता है। उनकी ही तरह सिक्ख धर्म भी मुक्ति की आकांक्षा रखने वालों के लिए खुले भ्रातृत्व की स्थापना करता था, पर उसके आध्यात्मिक और सामाजिक उद्देश्य उनसे ठीक विपरीत थे। जहाँ वे मुक्ति अथवा छुटकारे के लिए व्यक्तिगत संन्यास का सहारा लेते थे जो, जैसाकि उनके अनुष्ठान भी अभिव्यक्त करते हैं, सामाजिक मृत्यु के तुल्य होता था, वहीं नव सिक्ख समुदाय सामान्य सामाजिक जगत की ही मुक्ति के युद्धक्षेत्र के रूप में तस्दीक़ करता था। एक गुरु की तीनों परम्परा प्रदत्त भूमिकाएँ: पवित्र उद्भवों, चाहे अनुभवातीत या अनुभव-निहित, की श्रंखला में एक कड़ी की तरह होना, एक मध्यस्थ के तौर पर ईश्वर और उसके शिष्य को साथ लाने की भूमिका निभाना और वह माध्यम बनना जिसके ज़रिये ईश्वर स्वयं को प्रकट करना चाहे: तीनों ही सामुदायिकता के पहलू हैं न की व्यक्ति के। इसीलिए सिक्ख दीक्षा-संस्कार अधिकार-निवेशन के सकारात्मक प्रसंग को अधिकारहरण के नकारात्मक पहलू के ऊपर तरजीह देता है और हिन्दू संन्यास की व्यापक रूप से स्थापित प्रथाओं को संज्ञान में लेते हुए उन्हें ज़ोरदार ढंग से उलट देता

है। अतः इस विश्लेषण के अनुसार बाल नहीं कटवाने या अकर्तित रहने का अर्थ विशिष्ट रूप से 'निषेध के निषेध' के रूप में समझा जाना चाहिए: एक सिद्धान्त के तौर पर यह संन्यास से स्थायी रूप से संन्यास लेने को अभिव्यक्त करता है।

यह सांकेतिक परिकल्पना हालाँकि अभी पूर्ण नहीं हुई है; सभी पाँच 'क' के सन्दर्भ में अभी और चर्चा आवश्यक है। अभी तक हमने अपना ध्यान केवल दीक्षा संस्कार तक ही केन्द्रित किया है और *केश* की प्रासंगिकता को उसी सन्दर्भ में समझने की कोशिश की है। पर सिख धर्म के पाँच प्रतीक केवल दीक्षा-संस्कार तक ही नहीं आजीवन धारण किए जाते हैं। अब, दीक्षा के उपरांत, संन्यासी रिवाज के तहत या तो सम्पूर्ण केश राशि वैसी की वैसी रखनी होती है या पूरी मुंड़ा देनी होती है। जटाधारी जोगी पहला रास्ता लेते हैं – हालाँकि सभी जोगियों के बीच संन्यास की प्रतीकात्मकता का वहन मुख्यतः छिदवाए हुए कान और कान के छल्ले करते हुए प्रतीत होते हैं। कुछ और बानगियाँ देखें। बैरागियों का महत्वपूर्ण सम्प्रदाय भी अपने केश लम्बे रखता है जबकि, एक विपरीत उदाहरण लें, उत्तराधि दादूपंथी अपना सर, दाढ़ी और मूंछ मुंड़ा लेते हैं (रोज़ 1911: 36, 216)। अट्ठारहवीं सदी में स्थापित प्रमुख मुस्लिम सिलसिले रसूल शाहियों के बीच भी सर, मूंछ और भँवें पूरी तरह मुंड़ा लेते थे (रोज़ 1914: 324)। उन सभी संदर्भों में, जब केश लम्बे रखे जाते हैं तो वह भी *जटा* रूप में और भस्म में लिप्त। इसके बरक्स सिक्ख प्रथा के अनुसार *केश* अनिवार्यतः *कंघे* (पाँच में से दूसरा 'क') के साथ सम्बन्धित देखा जाता है। कंघे का काम बालों को नियंत्रण में रखना और सधी हुई तरतीब देना होता है। यह मायना और इसका अमल पगड़ी, जो *केश* और *कंघे* दोनों को अपने अंदर रखती है, पहनने की सिक्ख प्रथा से और भी स्पष्ट होता है। अत: *केश* और *कंघा* दो प्रतीकों की एक जोड़ी बनाते हैं। दोनों एक दूसरे के अर्थ को प्रकट करते हैं और दोनों का आपसी जुड़ाव ही *जटा* से पृथक *केश* का सम्पूर्ण अर्थ संप्रेषित करते है। मुंड़े हुए सर और छिदे हुए कान की तरह *जटा* भी नागरिक समाज और नागरिकता के परित्याग को सूचित करती है; जबकि *केश* और *कंघा* उसकी (नागरिक समाज) सुव्यवस्थित मान्यता को संकेतित करते हैं।

इसी तरह *कृपाण* और *कड़ा* प्रतीकों की दूसरी जोड़ी बनाते हैं। ऊपर की तरह इनमें से भी किसी एक को दूसरे से प्रथक कर के ठीक ढंग से नहीं समझा जा सकता। यहाँ बिना कोई अतिरिक्त साक्ष्य उपस्थित किए बग़ैर मुझे इतना कह लेने दीजिये कि *कड़ा कृपाण* के ऊपर वही व्यवस्थात्मक नियंत्रण रखता है जैसाकि *कंघा केश* के ऊपर। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कड़ा लिंगियों के मध्यकालीन संन्यासी सम्प्रदाय में नंगे शिश्न पर एक ज़ंजीर से बंधा हुआ वैसा ही छल्ला पहनने का चलन था। *कड़े* के साथ अपने

सम्मिलित अर्थ में *कृपाण* अनुष्ठानिक रूप से पाबंद की हुई तलवार है और इसीलिए केवल सिपाही के धर्म का चिन्ह नहीं एक नागरिक के ऐज़ाज़ की निशानी भी है। आख़िर में आता है *कच्छ,* कमर के नीचे के हिस्से और जाँघों को ढंकने का कपड़ा। पाँच 'क' में से इस आख़िरी 'क' को भी नियंत्रण के नुमाइंदे के तौर पर देखा जाना चाहिए। पर *कंघे* और *कड़े* के बनिस्बत इसके नियंत्रण का विषय स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं होता। यह अनकहा विषय, मेरे विचार में, ख़तनारहित स्त्री या पुरुष जननांग ही हो सकता है।

कच्छ इसके साथ एक एकात्मक अर्थ युग्म बनाता है और इस तरह प्रजनन की हक़ीक़त को पूरी तरह नकारने के बजाए उसके प्रति एक संयमयुक्त प्रतिबद्धता को चिन्हित करता है।

यदि यह आपत्ति की जाए कि इस आख़िरी परिकल्पना को रखते हुए मैं इस संदर्भ की गहरी रहस्यात्मकता का सिर्फ़ अनादर ही कर रहा हूँ, तो इस विषय पर स्वयं गुरु गोबिन्द सिंह के ही कथन का जल्द से जल्द हवाला देना चाहूँगा:

अजमेर चंद ने पूछा कि गुरु के सिक्खों के लक्षण क्या हैं। यानी उन्हें किस तरह से पहचाना जाए। तो गुरु ने कहा, "मेरे सिक्ख अपनी प्राकृतिक अवस्था में ही रहेंगे। हिंदुओं और मुसलमानों के अध्यादेशों के विपरीत, केशों और लिंग के आगे की त्वचा के साथ। उनके बिना नहीं" (मैकॉलिफ़ 1909: V, 99)।

आगे बढ़ते हुए हम इस प्रस्थापना को रख सकते हैं कि सिक्ख धर्म के पाँच प्रतीकों का मूलभूत अर्थ, जब उन्हें एक साथ रख के देखा जाए, दो विपरीत शक्तियों या पहलुओं के अनुष्ठानिक संयोजन में है। अकर्तित केश, कृपाण और (निहित रूप में) असुन्नत रहना या ख़तनारहित पुरुष जननांग पहले पक्ष को अभिव्यक्त करते हैं। वे ताक़तवर मानवीय सामर्थ्य के मुखर रूप हैं और अपने आप में अनैतिक, बल्कि ख़तरनाक शक्तियाँ भी होती हैं। वहीं दूसरी तरफ़ कंघा, इस्पात का कड़ा और कटि-प्रदेश और जाँघ को ढँकने वाला कच्छ दूसरे पहलू का, यानी नियंत्रण और नैतिक परख और विवेक का प्रतिनिधित्व करते हैं। पूर्ण और पूरक विरोधियों की तीन जोड़ियों (*कंघा/केश::कड़ा/कृपाण::कच्छ/असुन्नत अवस्था*) के रूप में उपरोक्त दो पहलुओं के योग से (जिनमें से एक पद अकहा छोड़ दिया जाता है) सिक्ख धर्म के पाँच प्रतीक अस्तित्व में आते हैं। प्रतिबद्धता और प्रतिबंध के ये दो पहलू मिलकर इतिहास और समाज में तस्दीक़ या यक़ीन (किसी और बेहतर शब्द के अभाव में) की भावना पैदा करते हैं जोकि निर्द्वंदवाद के आधुनिक उदाहरण के रूप में सिक्ख धर्म की प्रमुख ख़ासियत है।

सिक्ख और हिन्दू धर्म

प्रतीकों के तार्किक संयोजन और सांस्कृतिक अर्थों की संरचनात्मक व्याख्या पर फ़िलहाल इतना ही। हमें अब, संक्षेप में और सरल ढंग से, विश्लेषण के दूसरे स्तर जोकि हमारी पद्धति की दरकार है कि तरफ़ अपना रूख करना होगा। इसके तहत हम सिक्ख धर्म के उद्भव और विकास के व्यापक सामाजिक संदर्भ पर ग़ौर करेंगे। यहाँ मैं विस्तृत साक्ष्य प्रस्तुत करने या अपने दावे को सम्पूर्ण रूप से वाजेह बनाने के बजाए समस्या को मोटे और सामान्य अर्थ में कुछ इस तरह रखना चाहूँगा। सामाजिक सम्बन्धों की हिन्दू व्यवस्था यानी कास्ट (जाति), जिस पद के इस्तेमाल से वर्ण और जाति दोनों ध्वनित होते होते हैं, दरअसल हिन्दू धर्म का महज़ आधा हिस्सा है। अपनी सम्पूर्णता में हिन्दू *धर्म* का वर्णन *वर्णाश्रमधर्म* द्वारा किया जाना चाहिए। *वर्णाश्रमधर्म* यानी जाति और चार चरण, व्यक्तिगत जीवन की चार सामाजिक स्थितियाँ और भूमिकाओं (आश्रम) की समेकित संस्था। यदि समाजशास्त्रियों ने आज तक इस दूसरी संस्था को नज़रअंदाज़ करते हुए केवल जाति की संस्था पर ध्यान केन्द्रित किया है और उसे केवल भारतविदों के मत्थे छोड़ दिया है तो इसके कारण मेरी समझ से परे हैं। क्यूंकी हिंदुस्तान में जाति की सामाजिक व्यवस्था हमेशा से जैसे अ-जाति (प्रति-जाति) की छाया क्षेत्र से घिरी रही है। इस क्षेत्र में संन्यासी धार्मिक व्यवस्थाएँ पनपती रही हैं जिन्होंने जाति, वंश और जन्म के सिद्धांतों का सदा निषेध किया है; और चौथा *आश्रम* (संन्यास) उस दरवाज़े की तरह रहा है जिससे होकर एक व्यक्ति के पास जाति की दुनिया से निकलकर उसका निषेध करने का विकल्प रहा है। इन दो दुनियाओं का पारस्परिक सम्बन्ध, और मुझे इस संदर्भ में कोई संदेह नहीं है कि यह सम्बन्ध पारस्परिक था, उन दोनों की समग्रतापूर्ण समझ के लिए अति महत्वपूर्ण है। जाति, और विशेषकर कि ब्राह्मणों का दर्जा, मैक्स वेबर के अनुसार 'हिन्दू धर्म की मूलभूत संस्था है' (1948: 396)। यह पूरी तरह से एकतरफ़ा नज़रिया वह भी मैक्स वेबर का विषेशरूप से आश्चर्यजनक है क्योंकि वे पहले थे जिन्होंने सन 1916 में (उनके कहे अनुसार) 'आंशिक रूप से उत्कृष्ट जनगणना रिपोर्टों' का इस्तेमाल किया था। ध्यातव्य हो ये वही रिपोर्ट हैं जो कि रोज़ (1911 और 1914) और वर्तमान अध्ययन का भी आधार निर्मित करती हैं।

एक तरफ़ स्थानीय जाति समूहों की श्रेणीबद्ध व्यवस्था, जहाँ सदस्यता जन्म से पूर्व-निर्धारित होती है और दूसरी तरफ़ पूरी तरह से विपरीत संघों और संप्रदायों के स्वैच्छिक पंथ-समुदायों की व्यवस्था, हमेशा एक दूसरे को काटते हुए हिन्दू धर्म का ताना-बाना बुनते रहे हैं। *वर्णाश्रमधर्म* को क़ायम रखने के लिए आवश्यक तीसरा संरचनात्मक पहलू यानी प्रादेशिक राजशाही के, ब्राह्मण और संन्यासी की दो परस्पर विरोधी दुनियाओं से अपने विशिष्ट सम्बन्ध रहे आए हैं। अतः अपनी सम्पूर्णता में मध्यकालीन हिन्दू जगत, अपने मुख्य राजनैतिक संस्थान के साथ राजा, ब्राह्मण, संन्यासी की तीन पृथक दुनियाओं

की नुमाइंदगी करने वाली श्रेणियों और उनके अंतर्संबंधों की व्यवस्था को न केवल एक तरह से जन्म देता था बल्कि उनपर टिका भी हुआ था। (क) शासक, राज्य का जगत (ख) जाति व्यवस्था, वर्ण या गृहस्थ, और (ग) संन्यासी संघ अथवा संन्यास का जगत, इनके अधिकार क्षेत्र, सामाजिक हैसियत और भूमिकाएँ, मध्यकालीन त्रिभुज की तीन भुजाओं की तरह थीं। इतना ही नहीं इसके साथ, तक़रीबन यही सिद्धान्त और आधारभूत संरचना उस काल की इस्लामी संस्कृति के संदर्भ में भी देखे जा सकते हैं। हुकूमत (राज्यसत्ता), शरीयत (सामाजिक व्यवस्था) और तरीक़त या हक़ीक़त (मुक्तिमार्गी सूफ़ी सम्प्रदाय) के तीन क्षेत्रों के बीच के विभाजन और अंतर्संबंधों में यही विन्यास देखने में आता है। यह सभी समाजशास्त्रीय गुत्थियाँ हैं जो और पड़ताल की मांग करती हैं। जैसाकि हम अगले अध्याय में इन्हें अध्ययन की उपयुक्त इकाइयों में बाँटकर करने की कोशिश करेंगे।

कुछ सम्प्रदाय, जैसेकि अघोर-पंथी जोगी, जो अपने आप पर मल लपेट लेते थे, मानव खोपड़ी से पीते थे और कभी कदा ताज़ा दफ़नाये हुए बच्चे के शव को खाने के लिए निकाल लेते थे और 'इस तरह कुछ भी सामान्य या अशुद्ध नहीं है के सिद्धान्त को चरम तार्किक परिणति तक ले जाते थे', ज़ाहिर तौर पर हिन्दू जाति की रूढ़ि की वाक़ई जीती-जागती परछाईं जैसे थे। रूढ़िवादी नियमों के खिलाफ़ शायद ही इससे ज़्यादा दूर तक जाया जा सकता हो – सिवाय शायद बाममार्गियों के जो ऊपर की कारगुज़ारियों में यौनाचार भी जोड़ दिया करते थे! पर फिर भी अन्य-जोगी सम्प्रदायों के लिए पूरे विश्वास के साथ ये कहा जा सकता था कि 'शिमला की पहाड़ियों में जोगी मूलतः तो संन्यासी थे, पर अब गृहस्थ बन चुके थे', और दुनियावी जोगी, जिन्हें संयोगी कहा जाता था 'पंजाब के कुछ हिस्सों में बिलकुल किसी जाति जैसे हो चुके थे' (रोज़ 1911: 399n, 404, 409)। मेरे हिसाब से यह जो अंतर्विरोध सा प्रतीत होता है उसे हम तभी हल कर सकते हैं जब हम जोगियों की इन दो स्थितियों को विकास के एक ही चक्र के विभिन्न चरणों या अवस्थाओं की तरह देखें। इस परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत यह कहना ग़लत नहीं होगा कि कोई सम्प्रदाय या उप-सम्प्रदाय जिसने जाति को उसके तामाम सामाजिक अधिकारों और कर्तव्यों के साथ त्याग दिया हो और संन्यास के अरण्य में सामने के दरवाज़े से दाख़िल हुआ हो, बाद में चलकर हतोत्साहित भी हो सकता है या अपने विद्रोह से विरत हो सकता है, बल्कि जाति के घर में पीछे के दरवाज़े से फिर से दाख़िल होने का प्रयास भी कर सकता है।

निस्संदेह, मैं यह जोड़ना चाहूँगा कि जब कोई सम्प्रदाय अथवा वर्ग वैराग्य के मोर्चे से गिर जाता और परिणामतः ग़ैर-प्रजननशील, संपत्तिहीन और पेशेरहित अस्तित्व से तौबा कर लेता तो वर्णाश्रमधर्म की पूर्ण व्यवस्था में उसकी जगह कोई और सम्प्रदाय अथवा वर्ग ले

लेता, क्यूंकि वैराग्य वृत्ति और लगभग प्रोटेस्टेंटों जैसी सुधार प्रेरणा इतिहास में एक सतत रूप से विद्यमान तत्व रही है। अपनी वैराग्य अवधि में कोई सम्प्रदाय या उप-सम्प्रदाय ऊपर वर्णित अवस्थाओं में से एक या दूसरी को प्राप्त हो सकता था या क्रमानुसार दोनों से गुज़र सकता था। या तो वह सिद्धान्त और व्यवहार में अघोरपंथियों और बाममार्गियों की तरह पूरी तरह जाति विरोधी हो जाता और इसी वजह से रूढ़ि से प्रतिकूल या गोपनीय कहाता; नहीं तो वह जाति-मर्यादा के तहत रहते हुए जातिगत लोगों के सामान्य पंथवादी झुकावों के अनुसार आचरण करता, जो अपने लिए किसी गुरु को तो अपनाते हैं पर रहते गृहस्थ ही हैं। एक 'रूढ़ि-विपथ', बाँय-हत्था और नियमविरोधी पंथ जाति की जीवित छाया की तरह उसके विरोध में रहता है; वहीं एक 'रूढ़िवादी' और दाँय-हत्था पंथ जाति व्यवस्था के पूरक की तरह हिन्दू धर्म के भीतर उसके (जाति) दूसरे हिस्से की तरह रहता है।

मैं ये नहीं कहूँगा कि सभी ऐतिहासिक रूप से ज्ञात संन्यासी सम्प्रदाय वाक़ई विकास के इन्हीं चरणों से होकर गुज़रे हैं। पर इतना ज़रूर जोड़ना चाहूँगा कि हमें उनके जीवन-इतिहास कि कोई इस तरह की विश्लेषणात्मक व्यवस्था बनानी ही पड़ेगी जो उनके उद्भव, सामाजिक प्रकार्य और जाति, बल्कि और सटीक रूप से कहें तो *वर्णाश्रमधर्म* के बरक्स उनकी गति की दिशा को संदर्भित करे। ऐसा से करने से हमें तमाम ज्ञात पंथों और उप-पंथों को सीमित समाजशास्त्रीय प्रकारों में वर्गीकृत करने में मदद मिलेगी और उनके अध्ययन के मार्ग में आने वाली कई समस्याओं का अपने आप ही निराकरण हो जाएगा। विशेषतः जब तक हम मध्यकालीन संन्यासी सम्प्रदायों के विकास चक्र को पूरी तरह नहीं समझेंगे तब तक सोलहवीं और सत्रहवीं में दरपेश हुए 'लड़ाकू जोगियों' के राजनैतिक वाक़ये, उन्हीं के समकालीन इस्लामी रौशनिय्या पंथ (बयाज़िद, पीर-ए-रोशन, जन्म जलंधर, 1525 द्वारा संस्थापित) के लम्बे और हिंसक संघर्ष, 1675 के सतनामी विद्रोह, या 1763 में संन्यासियों द्वारा ढाका में मचाई लूटमार को उचित संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य में नहीं रख पाएंगे। यहाँ प्रस्तावित किये हुए विश्लेषणात्मक ढाँचे को एक ही सिद्धान्त-प्रणाली के तहत राजनैतिक निष्क्रियता और सक्रियता एवं टकराव के दृष्टांतों, प्रकारों और मरहलों की व्याख्या करनी होगी।

मुझे कोई संदेह नहीं है कि एक सामाजिक आंदोलन के रूप में प्रारम्भिक सिक्ख धर्म कुछ विशेष किस्म के धार्मिक सम्प्रदायों के साथ कई समान लक्षण साझा करता रहा है। यदि जाति बनाम ग़ैर-जाति के पेचीदा और उलझा हुआ चक्र से, जो अन्य प्रोटेस्टेंट और शास्त्र विरोधी सम्प्रदायों को अपने में फँसाता रहा, फिर भी सिक्ख धर्म मुक्त हो सका तो इसके वजूहात क्या हो सकते हैं? जैसाकि दूसरों के द्वारा पहले भी चिन्हित किया गया है,

यह सत्य है कि सिक्ख धर्म ने संन्यास के लिए दरवाज़ा बंद कर दिया था और इस तरह अपने आप को गूढ़ता और दुरूहता के अरण्य में खोने से बचा लिया। पर हमें यह भी बताना पड़ेगा कि इसने, औरों की तरह, जाति की घेरेबंदी में बर वक़्त वापसी क्यूँ नहीं की। मेरी संरचनावादी व्याख्या के तहत, सिक्ख धर्म का सर्वथा नया प्रस्थान बिन्दु यह था कि इसने मध्यकालीन जगत के श्रेणीगत विभाजनों, बौद्धिक और सामाजिक स्तरों पर, को नेस्तनाबूद करने का बीड़ा उठाया था। इसने न केवल सामान्य नागरिक अथवा गृहस्थ बनाम संन्यासी के द्वैत को नकारा बल्कि इन दोनों श्रेणियों और शासक के मध्य विरोध को भी खारिज कर दिया। इस तरह सिक्ख धर्म ने उन्हें अलग और अलहदा अस्तित्व रूप मानने से इनकार कर दिया था। इसने *राज्य, संन्यास,* और *गृहस्थ* के तीन क्षेत्रों की शक्ति को पहचाना, पर उन्हें अलग-अलग देखने के बजाये उनके गुणों को एक साथ आस्था और व्यवहार की एकीकृत धारा में प्रवाहित किया। स्व, अन्य और जगत के बीच निर्द्वंदता के आधुनिक भारतीय संस्करण की तरह सिक्ख धर्म समाज और इतिहास को एक सूत्र में पिरोता, अनुकम्पा और प्रयास से प्रेरित होकर लोक और परलोक, आत्मा और परमात्मा, व्यष्टि और समष्टि के बीच मध्यस्थता करते हुए द्वैतवाद के नकार के रूप में उपस्थित हुआ था।

सिक्ख दीक्षा-संस्कार का सामाजिक प्रकार्य और प्रभाव मेरे विचार में सटीक रूप से यह है: उपरोक्त तीनों पृथक क्षेत्रों के लाक्षणिक अधिकारों और कर्तव्यों के सामान रूप से वैध होने की तस्दीक़ करना और उनको एक अविभाज्य इकाई के रूप में नव-सिक्ख पर केन्द्रित करना। एक नव-दीक्षित पुरुष सिक्ख इसीलिए जोगियों की तरह अपनी प्रजनन सामर्थ्य को नकारने और विवाह ना करने का प्रण नहीं लेता बल्कि वह संयम के प्रतीक के रूप में पौरुष को दर्शाता *कच्छ* पहनता है। जोगी की ही तरह कभी शस्त्रों को न छूने या किसी रोज़गार न लेने या व्यापार में संलग्न न होने का व्रत लेने के बजाये भविष्य में कोई भी सामाजिक पेशा अथवा ओहदा, सिपाही, गृहस्थ या राजनैतिक नेतृत्व समेत (सिवाय उत्पादनशील श्रम के परित्याग और भीख माँगने के), उसके लिए खुला होता है। इसी तरह के या मिलते-जुलते नियम स्त्री नव-दीक्षित पर भी लागू होते हैं, पर इस विषय में अब तक पर्याप्त जानकारी का अभाव है। अतः मध्यकालीनता के महल में बाँटने वाले सभी दरवाजों को 'संन्यास से संन्यास' की अकेली चाभी से खोलने का भागीरथ प्रयास सिक्ख धर्म करता है; हालाँकि, क्या वह ऐसा करने में सफल होता है और किस हद तक, इन प्रश्नों का जवाब अभी भी विचारणीय है।

विश्लेषण और व्याख्या की चिन्हशास्त्रीय या संरचनावादी पद्धति, जिसकी मैंने एक बानगी उपस्थित करने के कोशिश की है, यह दिखाती है कि सिक्ख धर्म के पाँच प्रतीकों

और एक धर्म के रूप में उसकी सम्पूर्ण प्रकृति के बीच एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। पहले मैंने प्रतीकों की जो जोड़ियाँ बनाई हैं और एक अनकहे पद (बग़ैर ख़तने का प्रजनन अंग) का अनुमान किया है यदि उसे स्वीकार किया जाता है तो सिक्ख धर्म के पाँच प्रतीक, क्रमशः अपनी तीन मुताल्लिक़ा जोड़ियों में *संन्यास योग* (*केश* और *कंघा*), *गृहस्थ योग* (*कच्छ* और असुन्नत अवस्था) और *राज्य योग* (*कृपाण* और *कड़ा*) के गुणों और भूमिकाओं को प्रतीक रूप में व्यक्त करते हैं, फिर चाहे इसके आगे बढ़कर इन तीनों क्षेत्रों को मरहले वार ढंग से मुक्ति के पथ के रूप में धर्म, नागरिक समाज और राज्य के जीवन के अनुरूप या उनसे संगति में माना जाए या नहीं। सिक्ख धर्म के सत्यापन चिन्ह और ठप्पे की तरह ये पाँच 'क' मानव जीवन की अखंडता और एकसारता की तस्दीक़ करते हैं। यानी के मनुष्य का अस्तित्व खंड-खंड में विभाजित नहीं अपने आप में सम्पूर्ण है। इसे हम इस जगत में सदैव बिना केश कटवाये रहने का अंतिम अर्थ और प्रभाव मान सकते हैं। हमारा विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष की ओर भी ले जाएगा कि धार्मिक मनुष्य की सम्पूर्ण मानवीय मुक्ति, केवल हिन्दू धर्म और इस्लाम का कोई आदर्श संश्लेषण और सामंजस्य ही नहीं, अपने पर्दापण के साथ ही सिक्ख धर्म की आस्था और प्रयत्न रहे हैं। इस आस्था और प्रयत्न का संस्थानीकरण निस्संदेह पंजाब में इतिहास के आधुनिक दौर के सूत्रपात का सबसे मुखर और गहन प्रतीक रहा है।

---x---